समाज विज्ञान की पाठ्यपुस्तकें क्यों बनती हैं बहस का विषय? यह बातचीत पाठ्यपुस्तक विवाद के विभिन्न पहलुओं पर केन्द्रित है। बातचीत में कहा गया है कि समाज विज्ञान की प्रकृति में ही बहस की गुंजाइश छिपी है; क्योंकि समाज विज्ञान में समाज अपने बारे में बात करता है और समाज के हर वर्ग का अपने बारे में अलग नजरिया मुमकिन है जो कि अस्मिता की राजनीति की तरफ ले जाता है। इन पाठ्यपुस्तकों में समाज के विभिन्न वर्गों की सांस्कृतिक अस्मिता को संवैधानिक मूल्यों के संदर्भ में देखा गया है। साथ ही ये पाठ्यपुस्तकें नागरिक शास्त्र के औपनिवेशिक विमर्श से बाहर निकलकर समकालीन राजनैतिक चिन्तन को स्थान देने का प्रयास किया गया है।

अस्मिता की राजनीति और पाठ्यपुस्तकें

प्रोफेसर सुहास पलशीकर से रबि प्रकाश की बातचीत

प्रश्न : ऐसा देखा गया है, खास तौर से सामाजिक अध्ययन की पाठ्यपुस्तकों ने काफी विवाद पैदा किए हैं। 1980 व 1990 के दशक की पाठ्यपुस्तकों को लेकर दक्षिण पंथी राजनैतिक विचारधारा में विश्वास करने वाले लोगों में एक खास तरह का असंतोष था जो कई बार उनकी आलोचना के रूप में सामने आया। बाद के वर्षों में हमने देखा कि वर्ष 2000 के बाद जब राष्ट्रीय लोकतांत्रिक गठबंधन सरकार आई तो पाठ्यपुस्तकों में एक तरह का बदलाव किया गया जिसे लेकर पूरे देश के अकादमिक और सामाजिक समुदायों में एक खास तरह का आक्रोश था। हम समझना चाहते हैं कि सामाजिक विज्ञान की प्रकृति में ऐसी कौनसी खास बात है जो बार-बार विवाद पैदा करती है?

उत्तर : इतिहास और समाज विज्ञान की किताबों में समाज खुद के बारे में बात करता है, इस वजह से विवाद उत्पन्न होता है; क्योंकि हम खुद हमारे इतिहास के बारे में बात करते हैं और हम सभी की इतिहास के बारे में अलग-अलग राय हो सकती है। एक बात यह भी है कि समाज के हरेक वर्ग के लिए इतिहास का अलग अर्थ होता है। उसी तरह समाज विज्ञान में होता है। सामाजिक विमर्श में कौनसे शब्द इस्तेमाल करें, यह विवाद उत्पन्न करता है; क्योंकि शब्दों से संवेदनशीलता जुड़ी होती है। दूसरी बात यह है कि इतिहास या समाज विज्ञान में कौनसे सिद्धान्त को मान्यता मिले, कौनसे फ्रेमवर्क में अपने समाज के बारे में बच्चों को बताएं; ये प्रश्न भी महत्त्व रखते हैं। इसलिए समाज विज्ञान और इतिहास के बारे में विवाद होना कोई नई बात नहीं है। मैं यह भी समझता हूं कि यह सिर्फ हिन्दुस्तान के बारे में ही सच नहीं है, अगर आप स्कूल में कहीं भी समाज विज्ञान पढ़ाएं तो ये सवाल तो पैदा होते ही हैं कि इसमें क्या पढ़ाना? कैसे पढ़ाना है और क्यों पढ़ाना है?

मेरे ख्याल से, समाज विज्ञान की स्वयं की प्रकृति की विशेषता ही ऐसी है जिसमें विवाद उत्पन्न करने

वाले कुछ न कुछ पहलू व विषय रहते हैं। जैसे, आप संयुक्त राज्य अमेरिका, दक्षिण अफ्रीका के बारे में सोचते हैं। वहां नस्ल के बारे में कैसे सिखाएंगे? नस्ल का इतिहास कैसे सिखाएंगे? यदि आप श्रीलंका के बारे में पढ़ा रहे हैं तो श्रीलंका में तमिल के सवाल और भाषा के सवाल को कैसे पढ़ाएंगे? मुझे बहुत अचरज नहीं होता है कि हिन्दुस्तान में यह विवाद ज्यादा होता है। हम हिन्दुस्तान के बारे में सोच रहे हैं इसलिए हिन्दुस्तान के बारे में बात कर रहे हैं।

दूसरी बात, राष्ट्रीय लोकतांत्रिक गठबंधन (एनडीए) और संयुक्त लोकतांत्रिक गठबंधन (यूपीए) की है तो मैं यह समझता हूं कि एनडीए के पहले भी जब 1970 और 1980 के दशकों में कांग्रेस की सरकार हुआ करती थी, उस वक्त भी यह इल्जाम लगाया जाता था कि वे वाम प्रभुत्व में हैं और वामपंथियों के प्रभाव में आकर इस तरह की पाठ्यपुस्तकें, खास तौर से इतिहास की पाठ्यपुस्तकें बना रहे हैं। 70 व 80 के दशक में यह काफी हुआ करता था। जब एनडीए सरकार में आई तो प्रतिक्रिया स्वरूप उन्होंने अपनी विचारधारा के अनुरूप किताबें तैयार करने की कोशिश की। मैं यह कहूंगा कि यशपाल समिति के आलोक में तैयार हुई राष्ट्रीय पाठ्यचर्या रूपरेखा 2005 और उसके तहत तैयार हुई किताबें, सिर्फ राजनीति विज्ञान की ही पाठ्यपुस्तकें नहीं बल्कि सभी पाठ्यपुस्तकों की प्रक्रिया निष्पक्ष तरीके से चली और लिखने की भी कोशिश निष्पक्ष तरीके से की गई। मेरे ख्याल से ऐसा पहली बार हुआ है। मेरा मतलब है कि लेखकों के खुद के जो विचार थे उन्हें अलग रखकर निष्पक्ष तरीके से और समाज विज्ञान की हैसियत से पाठ्यपुस्तकें लिखने की कोशिश की गई। इसीलिए इन पर कम विवाद हुआ, हालांकि अभी तो विवाद हो रहा है। लेकिन फिर भी समाज विज्ञान की पाठ्यपुस्तकों पर कम विवाद हुए हैं क्योंकि पहली बार यह हुआ कि जो लोग राष्ट्रीय पाठ्यचर्या रूपरेखा 2005 बनाने के लिए जुटे और जिन्होंने यह किताबें लिखीं, उनकी यह मान्यता थी कि वे अगले 5-10 साल के लिए सचमुच निष्पक्ष तरीके से इस विषय में और अपनी-अपनी सामाजिक स्थिति में बच्चों की रुचि पैदा करने के लिए पाठ्यपुस्तकें बनाएं।

प्रश्न : सामाजिक विज्ञान के क्षेत्र में अभी जिस तरह का विकास हुआ है उसमें 'अस्मिता'/'पहचान' का सवाल बहुत ही मजबूत रूप से उभरा है और उसकी जो दार्शनिक एवं सैद्धान्तिक मान्यताएं हैं, उसके अनुसार 'ज्ञान' को एक खास तरह से देखा जाता है। यह कहा जाता है कि आप जो जानते हैं, वही आप होते हैं। इसलिए उसमें किसके ज्ञान का चयन किया जाए और पाठ्यपुस्तक के विकास में इस ज्ञान के चयन के क्या आधार हों, यह बहुत ही महत्त्वपूर्ण सवाल हो जाता है। राष्ट्रीय पाठ्यचर्या रूपरेखा 2005 के अनुसार भारत जैसे विशाल देश में जहां कि बहुत तरह की विविधता है, इस चुनौति को संबोधित करने के लिए आपने कौनसे सिद्धान्त को अपनाया?

उत्तर : मेरे ख्याल से राष्ट्रीय पाठ्यचर्या रूपरेखा 2005 के आधार पर पाठ्यपुस्तकें तैयार करने वाले सभी लोगों में एक तरीके से ज्यादा विचार विमर्श नहीं हुआ

प्रोफेसर सुहास पलशीकर

एनसीईआरटी की राजनीति विज्ञान की पाठ्यपुस्तक निर्माण समिति के मुख्य सलाहकार रहे हैं एवं पुणे विश्वविद्यालय में राजनीति शास्त्र के प्रोफेसर एवं विभागाध्यक्ष हैं।

रबि प्रकाश

टाटा इंस्टीट्यूट ऑफ सोशयल साइंस से एम.ए.। वर्तमान में दिगन्तर में सेन्टर फोर टीचर नॉलेज में शोधकर्ता के रूप में कार्यरत।

था। हरेक विषय और हरेक पाठ्यपुस्तक विकास के लिए जो टीम थी उन्होंने इस पर जरूर विचार किया होगा। जैसे, राजनीति शास्त्र के लिए हमने जो विचार किया, वह यह था कि 'पहचान', जैसा आपने कहा, आज के जमाने में एक महत्त्वपूर्ण मूल्य बन चुका है। समाज विज्ञानी इस बात को दर्ज करते हैं कि 'पहचान' महत्त्वपूर्ण है और हरेक की, खुद की जो 'पहचान' है वह प्रमाणिक है। इसका मतलब यह हुआ कि मैं यह नहीं कहूंगा कि आप जो अपनी 'पहचान' बता रहे हैं वह गलत है, क्योंकि आप ही आपकी, अर्थात् चाहे वह व्यक्ति हो या समूह, पहचान को परिभाषित और व्याख्यायित करते हैं। समाज विज्ञान में इस पर काफी बहस चल रही है। इसलिए हमने सिर्फ इतना माना कि पहचान रहना और पहचान के तहत किसी समूह के द्वारा अपने सामूहिक अस्तित्व को व्याख्यायित करने में कोई गलत बात नहीं है। चाहे वह कोई भी पहचान हो।

अब सवाल यह पैदा होता है कि पाठ्यपुस्तकों में कौनसी पहचान को स्थान दिया जाए, किस पहचान को विशेषाधिकार मिले? हमने यह नहीं माना कि कोई भी पहचान दूसरी पहचान से आगे है, अच्छी है या प्रभावशाली है बल्कि हमने यह माना कि हमारे समाज में पहचान की विविधता है। फिर भी हमारे सामने सवाल मूल्य का था कि कौनसे मूल्यों को प्राथमिकता दें? हमारे लिए बुनियादी मूल्य भारतीय संविधान के बुनियादी मूल्य ही हैं। जब आप संविधान की बात करते हैं तो दो या तीन चीजें उभर कर आती हैं। एक मूल्य तो गणतंत्र है। आपकी पहचान और गणतंत्र में कुछ तो सामंजस्य होना चाहिए। दूसरा मूल्य समानता का है। यह पहचान जरूर है लेकिन इसमें कोई एक अच्छी और दूसरी बुरी, कोई एक आगे और दूसरी पीछे है, ये हमारी राय नहीं है; बाकी लोगों की भी नहीं होनी चाहिए। हमने इन पाठ्यपुस्तकों में यह संदेश देने की कोशिश की है। इस सबके बावजूद, संविधान में तीसरी महत्त्वपूर्ण बात हम भ्रातृत्व की करते हैं, जिसकी बात संविधान की प्रस्तावना में करते हैं। आप उसे एकता कहिए या भ्रातृत्व कहिए; इन तीनों चीजों को मिलाकर पहचान के सवाल को हल करने की कोशिश की गई है। अगर आप देखें तो हमने 9वीं और 10वीं कक्षा में जहां लोकतंत्र और विविधता का जिक्र आता है, वहां यह बात करने की कोशिश की है कि विविधता तो है और होनी भी चाहिए। समाज के लिए विविधता अच्छी बात है और इसके साथ-साथ यह भी कहा है कि किसी भी लोकतंत्र के सफल होने का एक संकेत यह है कि वह विविधता को कैसे संबोधित करता है। 11वीं और 12वीं में, हालांकि, इसका ज्यादा जिक्र नहीं आता क्योंकि पाठ्यक्रम में इससे संबंधित ज्यादा चीजें नहीं आती हैं, लेकिन राजनैतिक सिद्धान्त की पाठ्यपुस्तक में जहां हम समानता की बात करते हैं या पंथ निरपेक्षता की बात करते हैं, दोनों जगह यह सवाल फिर पैदा होता है, उनको हमने वहां हल करने की कोशिश की है। वैसे तो जो इन किताबों को पढ़ेंगे उन पर निर्भर है, लेकिन मैं यह कहूंगा कि हमने इतनी कोशिश जरूर की है कि एक पहचान को हावी नहीं होने दिया जाए और किसी भी पहचान को अमान्य नहीं करें। ये दो सिद्धान्त हैं। हम ऐसा नहीं कहेंगे कि कोई पहचान गलत है और हम ऐसा भी नहीं कहेंगे कि कोई एक पहचान वर्चस्वशाली, प्रभावशाली है। हमारे फ्रेमवर्क का यह केन्द्रीय हिस्सा है।

अब सवाल यह पैदा होता है कि पाठ्यपुस्तकों में कौनसी पहचान को स्थान दिया जाए, किसे विशेषाधिकार मिले? हमने यह नहीं माना कि कोई भी पहचान दूसरी पहचान से अलग होकर आगे है, अच्छी है या प्रभावशाली है। बल्कि हमने यह माना कि हमारे समाज में पहचान की विविधता है।

प्रश्न : इन पाठ्यपुस्तकों के निर्माण के लिए जिस प्रक्रिया को अपनाया गया उसमें व्यापक भागीदारी थी। काफी लोगों ने भागीदारी की जिसमें शिक्षक थे, अकादमिशियन थे, कुछ स्वयंसेवी संगठनों से लोग शामिल रहे और शायद कुछ खास स्तरों पर जन प्रतिनिधि भी शामिल रहे। इस पूरी प्रक्रिया में

भागीदारी का जो सिद्धान्त अपनाया गया, वह कितना सफल रहा है?

उत्तर : मैं सोचता हूं कि यह काफी सफल रहा। हालांकि, राष्ट्रीय पाठ्यचर्या रूपरेखा 2005 बनाने में मेरी भागीदारी नहीं रही। मैं इस प्रक्रिया में तब शामिल हुआ जब मुझे मुख्य सलाहकार नियुक्त किया गया। लेकिन राष्ट्रीय पाठ्यचर्या रूपरेखा के बारे में बहुत सारे लोगों से बातें होती रहती थी। काफी देर तक स्वयंसेवी संगठनों के प्रतिनिधियों, विशेषज्ञों, शिक्षाविदों तथा अधिकारियों से इसके बारे में बहस हुई थी। प्रो. यशपाल की अध्यक्षता में राष्ट्रीय पाठ्यचर्या रूपरेखा अंत में तैयार हुई और उसके तहत जो आधार समूह हुआ करते थे, जो हरेक विषय के बारे में बात करते थे, उनके आधार पर पाठ्यक्रम बनाने को कहा गया। लेकिन वह पाठ्यक्रम गतिशील था। अर्थात् आज के दिन जो पाठ्यक्रम तैयार हुआ वही अन्तिम नहीं होता था। यह पाठ्यक्रम हमारी समिति को दिया गया जिसे तकनीकी रूप से पाठ्यपुस्तक निर्माण समिति कहा गया। मुख्य सलाहकार के साथ सलाह-मशविरा करके एनसीईआरटी ने पाठ्यपुस्तक निर्माण टीम तैयार की। इस टीम में, जैसा आपने कहा, स्कूल शिक्षक थे, कॉलेज शिक्षक थे और कई समितियों में स्वयंसेवी संगठनों के लोग थे। इन पाठ्यपुस्तक निर्माण समितियों को पाठ्यक्रम का एक प्रारूप दिया गया जिसमें कुछ बदलाव करने की भी इजाजत थी। ऐसा नहीं हुआ कि आपको पाठ्यपुस्तक लिखनी है, ये पाठ्यक्रम लीजिए और लिख दीजिए। और जहां तक हमारी समिति थी, मुझे याद है कि हमने पहली दो-तीन बैठकों में पाठ्यक्रम पर ही बहस की थी और उस बहस के बाद पाठ्यक्रम के जो मुख्य मुद्दे होते हैं, उन्हें विस्तार के साथ बनाया था।

इन पाठ्यपुस्तकों में एक बिन्दु है 'संसदीय लोकतंत्र'। इस पर लिखने से पहले इसमें क्या-क्या चीजें आती हैं, इस पर बहस हुई। लिखित पाठ उल्टा-पुल्टा होकर आ जाता था कि यह बिन्दु ऐसे नहीं होना चाहिए। इसके बाद बतौर मुख्य सलाहकार मैंने और योगेन्द्र यादव ने नोट्स तैयार किए, उन्हें हमने लेखक को भेजा और कहा कि इनकी रौशनी में आप अपना प्रारूप तैयार करिए। समिति के सभी सदस्यों को उस प्रारूप की सॉफ्ट कॉपी भेजी जाती थी और वे उस पर अपनी टिप्पणियां भेजते थे। फिर समिति में बहस होती थी। पाठ का प्रारूप तैयार करने वाले लेखक को यह भी बताया गया कि यह प्रारूप अन्ततः बच्चों के लिए सहज और दोस्ताना होना चाहिए। यदि आप लेखक हैं तो आपने जो शब्द और वाक्य लिखे हैं वे वैसे के वैसे आएंगे इसकी कोई गारंटी नहीं है। क्योंकि विशेषज्ञ जब लिखते हैं तो वाक्य बहुत बड़े होते हैं और अनेक बार तर्क बहुत ही जटिल होता है। उन्हें बदलने का अधिकार हमने मुख्य सलाहकार की हैसियत से अपने पास रखा हुआ था। मैं कहना चाहूंगा कि सभी लोगों ने हमें सहयोग दिया। किसी ने ऐसी शिकायत नहीं की कि मेरा वाक्य बहुत अच्छा था आपने क्यों हटा दिया। क्योंकि उन्होंने माना कि यह एक प्रक्रिया है। स्कूल शिक्षकों ने कई बार हमें चेताया कि बच्चों की समझ के लिहाज से यह नहीं चलेगा, तो हमने बदलाव किए। इसलिए मैं अपने सीधे अनुभव के आधार पर कह सकता हूं कि अन्ततः हमारे विषय का अनुभव बहुत सफल रहा।

इसके बाद एनसीईआरटी की अपनी आन्तरिक व्यवस्था थी। पुस्तकों के जो प्रारूप तैयार होते थे वे उसमें पढ़े जाते थे। उनकी टिप्पणियां आती थीं। उसके बाद मानव संसाधन विकास मंत्री ने एक राष्ट्रीय निगरानी समिति बनाई थी और वह समिति काफी समय लगाकर उन प्रारूपों को पढ़कर आती थी और फिर बहस होती थी। और इसके बाद वे अन्तिम रूप से पाठ्यपुस्तक को स्वीकृति प्रदान करते थे। मैं यह नहीं कहूंगा कि हरेक वाक्य के लिए राष्ट्रीय निगरानी समिति जिम्मेदार है, लेकिन पाठ्यपुस्तक निर्माण की प्रक्रिया को समझना बहुत जरूरी है क्योंकि बहुत बड़े विशेषज्ञों का समुदाय इसमें शामिल था। यह इसलिए महत्त्वपूर्ण बात है क्योंकि ऐसा नहीं है कि किन्हीं दो-चार लोगों ने यह किताबें लिखी हैं और किन्हीं दो ने इसे प्रमाणित किया है। जिस तरह की प्रक्रिया राजनीति विज्ञान

में चली थी वैसी ही इतिहास, भूगोल और बाकी विषयों में चली थी। यह एक अच्छा तरीका है और मेरे ख्याल से हमें इसे बचाकर रखना चाहिए। अतः यह एक अच्छी प्रक्रिया है कि पहले पाठ्यपुस्तक निर्माण समिति हो, बाद में संपादन और उसको जांचने के प्रभारी हों और अन्त में राष्ट्रीय निगरानी समिति हो।

यह ध्यान में रखने की बात है कि एनसीईआरटी एक तरीके से संसद के नियंत्रण में आती है। इसलिए यह बहुत अच्छी बात है कि सरकार ने एक राष्ट्रीय निगरानी समिति नियुक्त की थी। इसका मतलब यह हुआ कि सरकार ने यह कहा कि हम बतौर संसद और सरकार आपके ऊपर हैं लेकिन हम जांच नहीं करेंगे। हम अपने दूसरे मॉनीटर नियुक्त करेंगे और वे जांच करेंगे। यह बहुत ही स्वागत योग्य स्थिति है। उनकी ओर से जो कुछ सूचनाएं आती थीं, उनकी भावना भी यही होती थी कि आप राजनीति विज्ञान के विशेषज्ञ हैं, तकनीकी रूप से आपको जो ठीक लगता है उसे हमें बताइए कि यह क्यों ठीक है, नहीं तो हमारी यह राय है। पाठ्यपुस्तक की भाषा ज्यादा सख्त लगती थी या ज्यादा विवादास्पद लगती थी तो ये बात भी बहस में आती थीं। यह एक अच्छा मॉडल रहा।

अंग्रेजों के जमाने में हिन्दुस्तान और बाकी जगहों में, और खुद इंग्लैण्ड में भी, यह विचार था कि अच्छा नागरिक बनाने के लिए पाठ्यपुस्तक का इस्तेमाल किया जाए, जिसमें नागरिकों को कहा जाए कि आप कैसे बर्ताव करें? आप क्या करें? आपके कर्तव्य क्या हैं? आप नागरिक हैं इसलिए आपके ऊपर कौनसे उत्तरदायित्व हैं?

प्रश्न : हमने राजनीति विज्ञान को नागरिक शास्त्र के रूप में पढ़ा। एनसीएफ 2005 की प्रक्रिया के बाद इसे राजनीति विज्ञान कहा गया। एनसीईआरटी की 9वीं-10वीं की मौजूदा पाठ्यपुस्तकों में इस शब्दावली में बदलाव के पीछे क्या तर्क था?

उत्तर : मैं तो यह कहूंगा कि यह सिर्फ शब्दावली का बदलाव नहीं है। उसके पीछे एक निश्चित दार्शनिक पक्ष है और इसमें मेरा कोई हिस्सा नहीं है क्योंकि जब मैं मुख्य सलाहकार बना उससे पहले ही यह राष्ट्रीय पाठ्यचर्या रूपरेखा में तय हो गया था। मैं खुद को सौभाग्यशाली समझता हूं कि इस प्रक्रिया के बाद मुझे काम करने का मौका मिला, क्योंकि जब से मैं राजनीति विज्ञान पढ़ा रहा हूं और मैंने कई साल पहले महाराष्ट्र में नागरिक शास्त्र की किताबों के लिए पाठ्यपुस्तक ब्यूरो के साथ काम किया था, तब से मुझे यह असंतोष था कि नागरिक शास्त्र क्या चीज है? नागरिक शास्त्र हमारे अतीत का एक हिस्सा है। अंग्रेजों के जमाने में हिन्दुस्तान और बाकी जगहों में, और खुद इंग्लैण्ड में भी, यह विचार था कि अच्छा नागरिक बनाने के लिए पाठ्यपुस्तक का इस्तेमाल किया जाए, जिसमें नागरिकों को कहा जाए कि आप कैसे बर्ताव करें? आप क्या करें? आपके कर्तव्य क्या हैं? आप नागरिक हैं इसलिए आपके ऊपर कौनसे उत्तरदायित्व हैं? नागरिक शास्त्र की पाठ्यपुस्तकों में यह हुआ करता था कि स्कूल शिक्षक के क्या उत्तरदायित्व हैं? शिक्षार्थी के क्या हैं? परिवार के उत्तरदायित्व क्या हैं और नागरिक के क्या हैं? नागरिक शास्त्र में इस पर ही ज्यादा बहस होती थी। नागरिक शास्त्र का दूसरा हिस्सा सांस्थानिक राजनीति पर होता था जिसे हम सांस्थानिक राजनीति विज्ञान कहते हैं। यानी, अगर आप अच्छे नागरिक हैं तो आपको पता होना चाहिए कि हमारी राजनैतिक संस्थाएं कौन-कौनसी हैं, भले ही इसमें बच्चे की रुचि हो या न हो। हम बच्चे पर यह थोपेंगे कि हमारे यहां ग्राम पंचायत होती है, जिला परिषद् होती है और उसमें इतने सदस्य होते हैं। ये दोनों अंसतोष हमारे मन में थे।

सौभाग्यवश राष्ट्रीय पाठ्यचर्या रूपरेखा में यह निर्णय लिया कि हमें अच्छे नागरिक बनाने के लिए

ही नागरिक शास्त्र को हटाकर राजनीति शास्त्र पढ़ाना चाहिए क्योंकि राजनीति शास्त्र एक सामाजिक विज्ञान है जो आलोचनात्मक योग्यताएं विकसित करने में मदद कर सकता है। जैसे, हम अर्थशास्त्र पढ़ाते हैं, भूगोल पढ़ाते हैं, वैसे ही राजनीति पढ़ाएंगे, क्योंकि राजनीति किसी भी लोकतंत्र का एक बहुत ही महत्त्वपूर्ण हिस्सा है। अगर वह महत्त्वपूर्ण हिस्सा है तो क्यों नहीं पढ़ाएं। और अगर इसे पढ़ाना है तो कब से पढ़ाएं? राष्ट्रीय पाठ्यचर्या रूपरेखा में यह निर्णय लिया गया कि 8वीं कक्षा तक इसे सामाजिक और राजनैतिक जीवन कहा जाए। जिसमें मुख्य रूप से बच्चों के आसपास के परिवेश से उदाहरण लेकर इन विषयों से उनका परिचय करवाया जाए और कक्षा 9 से व्यवस्थित रूप से राजनीति विज्ञान पढ़ाया जाए। जिसके तहत गणतंत्र और भारतीय संविधान का परिचय शिक्षार्थियों को हो पाएगा। हमें खुशी है कि हम उसके हिस्से हैं। मेरे ख्याल से यह एक अच्छी बात हुई है।

इस प्रक्रिया के नतीजे के रूप में अब यह हो रहा है कि हरेक राज्य में जहां खुद के पाठ्यपुस्तक ब्यूरो हैं, वहां हल्के-हल्के बदलाव होने शुरू हुए हैं। महाराष्ट्र में भी अभी राज्य पाठ्यचर्या रूपरेखा बनी है जिसमें मैंने कुछ नहीं किया है। उसमें भी उन्होंने नागरिक शास्त्र हटाकर राजनीति विज्ञान या सामाजिक और राजनैतिक अध्ययन जैसे नाम देने का निर्णय किया है। मुझे लगता है कि यह एक अच्छा बदलाव, विकास है कि हम शिक्षार्थी को सचमुच सामाजिक विज्ञान पढ़ाएंगे न कि हमारे समाज के बारे में एक कृत्रिम आदर्श नैतिक नजरिए से पढ़ाएंगे, क्योंकि आदर्श और नैतिकता पढ़ाने से लोग आदर्शवादी और नैतिकतावादी नहीं बनते। वे अपने अनुभव से बनते हैं। इसलिए प्रक्रिया पढ़ाना ज्यादा महत्त्वपूर्ण है। जैसा कि मैंने कहा, नागरिक शास्त्र का दूसरा हिस्सा था 'संस्थाएं'। अगर हम राजनीति विज्ञान पढ़ाते हैं तो यह अवसर मिलता है कि प्रक्रियाएं पढ़ा पाएं न कि सिर्फ संस्थाएं। अगर आप 'चुनाव' के बारे में पढ़ा रहे हैं तो चुनाव आयोग तो जरूर पढ़ाएंगे क्योंकि वह महत्त्वपूर्ण संस्था है, साथ-साथ असल में चुनाव कैसे होते हैं और उनके मायने क्या होते हैं, यह भी पढ़ाएंगे। अतः यह शब्दावली का बदलाव नहीं है। यह राजनीति विज्ञान की समझ में एक महत्त्वपूर्ण बदलाव है। वास्तव में यह दर्शन है। बच्चों को सामाजिक विज्ञान कब से पढ़ाया जाए इसके बारे में इससे एक तात्विक भूमिका निर्मित होती है और यदि यह जारी रहेगा तो मुझे लगता है कि 10-20 साल के बाद हमें इसका एक महत्त्व मालूम होगा।

प्रश्न : इसका अर्थ है कि स्कूली शिक्षा एक खास तरह की राजनैतिक प्रक्रिया है, जिसमें बच्चों को क्या पढ़ाना है, किस तरीके से पढ़ाना है और किसलिए पढ़ाना है; यह एक राजनैतिक प्रक्रिया के तहत तय होता है। पाठ्यचर्या और पाठ्यपुस्तकें उसका प्रतिनिधित्व करती हैं और जिस तरह की प्रक्रिया एनसीएफ 2005 में अपनाई गई कि लेखक को एक तयशुदा फ्रेमवर्क के तहत पाठ्यपुस्तकें लिखनी थीं। ऐसे में लेखक के लिए व्यक्तिगत मान्यताओं को टालना और पहले से तयशुदा चीजों को अनुसरण करना कितना मुश्किल होता है?

उत्तर : मुझे लगता है कि यह बहुत मुश्किल तो नहीं रहा, लेकिन उसके दो कारण हैं। एक कारण तो यह है कि हमारी काफी बहस हुई थी। जो लोग एक विचार को पाठ्यपुस्तक में लाने के लिए बहुत उत्साहित थे उनको हम यह समझा पाए कि इस किताब का यह मकसद नहीं है। किताब का मकसद यह पढ़ाना नहीं है कि पंथ निरपेक्षता अच्छी चीज है या बुरी। किताब का मकसद यह पढ़ाना है कि पंथ निरपेक्षता क्या है और उसका क्या महत्त्व है। हम सब कहते हैं कि लोकतंत्र तो बुनियादी मूल्य है। लेकिन फिर भी लोकतंत्र पढ़ाते हुए हमने इन पाठ्यपुस्तकों में खुले आम कहा है कि लोकतंत्र के व्यवहार में भी समस्याएं आ सकती हैं।

मुश्किल नहीं होने का दूसरा कारण यह रहा कि हमने विस्तृत नोट्स तैयार करके लेखक को दिए थे

कि आपको इस विषय पर लिखते हुए क्या-क्या करना है और किन चीजों का ध्यान रखना है। मैं एक बात यह कहना चाहूंगा कि मैं और योगेन्द्र यादव शिक्षाशास्त्री नहीं हैं, हमारे पास शिक्षणशास्त्र की विशेषज्ञता नहीं है। हम लोगों को पढ़ने-पढ़ाने और काम करते-करते यह ध्यान रहा कि ये गलतियां नहीं करनी चाहिएं। राजनीति विज्ञान के एक शिक्षक के रूप में हम इस सवाल पर स्पष्ट थे कि हमें शिक्षार्थी पर अपने मतों को थोपना नहीं है बल्कि उनको उनके मत विकसित करने के लिए प्रोत्साहित करना है। जब एक बार यह तय हो गया कि हमें मुख्य रूप से यह काम करना है तो फिर शिक्षार्थी से कहेंगे कि यह एक चीज है, यह दूसरी चीज है; अब आप अपना मत तैयार कर लीजिए। मेरे ख्याल से सभी लेखकों ने इस सिद्धान्त को स्वीकार किया कि हम अपने मत नहीं देंगे, हम शिक्षार्थियों को उपकरण देंगे। यह किताबें एक उपकरण की तरह होंगी जिससे वे अपने मत खुद तैयार करने में सशक्त हो पाएं। इसमें यह सवाल जरूर पैदा होता है कि क्या हर बच्चा यह कर पाएगा? क्या हर अध्यापक बच्चों को यह करने देगा? लेकिन मुझे लगता है कि यह पाठ्यपुस्तक निर्माण के बाहर के और बहुत विस्तृत मुद्दे हैं और ज्यादातर ये मुद्दे शिक्षण व्यवस्था से जुड़े हैं। इसके लिए शिक्षकों का प्रशिक्षण बार-बार करना होगा, कक्षा-कक्ष में अन्तःक्रियात्मक प्रक्रियाओं आदि को अपनाना होगा। हम यह समझते हैं कि हम बहुत छोटे लोग हैं। हमने सिर्फ पाठ्यपुस्तक बनाने का जिम्मा लिया था। ये सब चीजें करना तो बहुत मुश्किल है, लेकिन मैं यह जरूर कहूंगा कि यदि सब मिलकर करेंगे तब ही यह हो पाएगा।

राजनीति विज्ञान के एक शिक्षक के रूप में हम इस सवाल पर स्पष्ट थे कि हमें शिक्षार्थी पर अपने मतों को थोपना नहीं है बल्कि उनको उनके मत विकसित करने के लिए प्रोत्साहित करना है। जब एक बार यह तय हो गया कि हमें मुख्य रूप से यह काम करना है तो फिर शिक्षार्थी से कहेंगे कि यह एक चीज है, यह दूसरी चीज है; अब आप अपना मत तैयार कर लीजिए।

पाठ्यपुस्तकों पर मेरे साथी योगेन्द्र यादव ने कई कार्यशालाएं कीं। वे कई स्कूलों में गए, वहां बच्चों से बात की। हमने पाठ्यपुस्तक में एक ईमेल का पता दिया था और पिछले 6 साल में हमारे पास बच्चों के सैकड़ों ईमेल आए हैं। इन ईमेल में लिखा था कि ये किताबें अच्छी हैं। उन्होंने कई तरह के सवाल पूछे थे कि यह क्या है? यह मुझे कहां मिलेगा? यह कौनसी वेबसाइट पर मिलेगा? हमारे शिक्षक तो यह कहते हैं; आदि-आदि। इस तरह के सवाल आए तो मुझे लगता है कि हम एक छोटे हिस्से में सफल रहे हैं और इन पाठ्यपुस्तकों के जरिए यह हुआ है कि बच्चे विचार करने लगे हैं और सवाल पूछने लगे हैं।

प्रश्न : यदि हम लोकतांत्रिक प्रक्रियाओं और संस्थायी स्वायत्ता की बात करें तो पाठ्यपुस्तकों पर संसद में हाल में हुई बहस पर कुछ लोग यह तर्क दे रहे हैं कि संसद यह तय नहीं कर सकता कि पाठ्यपुस्तक की विषयवस्तु क्या हो या पाठ्यपुस्तक में क्या पढ़ाया जाना चाहिए। एनसीईआरटी एक पेशेवर संस्था है जो पाठ्यपुस्तकों में क्या होना चाहिए, इसे तय करने के लिए अधिकृत और सक्षम संस्था है। इसे तय करना संसद का विशेषाधिकार नहीं होना चाहिए। एनसीईआरटी लोकतांत्रिक प्रणाली के तहत ही काम करता है तो इस सवाल को आप कैसे देखते हैं?

उत्तर : एक बात तो मैं यह जरूर कहूंगा, जैसा कि मैंने पहले भी कहा, संसदीय कानून से ही एनसीईआरटी बनी है। इसलिए एनसीईआरटी पर संसद का नियंत्रण तो होगा ही। दूसरी चीज यह है कि हम किताबों में पढ़ाते हैं और हमने इन किताबों में भी यह कहा है कि भारतीय लोकतंत्र में संसद सर्वोच्च संस्था है। इसलिए संसद में किसी बात पर बहस होती है तो मुझे इसमें कोई एतराज नहीं होता। इस पर सिर्फ दो सवाल हैं। एक सवाल यह है कि जब संसद में बहस होती है तब क्या सब मुद्दों पर ध्यान

दिया जाता है? अभी जो विवाद हुआ, हमें यह एतराज नहीं है कि संसद ने यह बहस क्यों की। हमारा सिर्फ यह सवाल है कि यदि संसद में पाठ्यपुस्तकों को बारीकी से पढ़कर बात होती तो अच्छा होता। दूसरी बात यह कि संसद की एक प्रक्रिया है। यदि संसद नियंत्रण करता है तो वह किस तरह से नियंत्रण करता है? संसद अपने मंत्रियों के द्वारा और मंत्री अपनी समितियों के द्वारा नियंत्रण करते हैं। मेरा पक्ष यह नहीं है कि संसद को नियंत्रण नहीं करना चाहिए। मेरा कहना है कि यह नियंत्रण किस तरह किया जाना चाहिए और कौनसी प्रक्रियाएं अपनानी चाहिएं, इसके बारे में तो कुछ सवाल जरूर पैदा होते हैं।

प्रश्न : लेकिन सवाल यह है कि भारत जैसे लोकतांत्रिक समाज में जहां बहुत विविधता है, बहुत-सी संस्कृतियां हैं और इन सबका पाठ्यपुस्तकों में प्रतिनिधित्व होना है तो एनसीईआरटी जैसी एक संस्था चाहे वह कितनी ही पेशेवर संस्था हो; क्या उसे पाठ्यपुस्तक में सांस्कृतिक ज्ञान के प्रतिनिधित्व के लिए अधिकृत किया जा सकता है? इस तरह के सवाल भी उठते हैं। आपके इस पर क्या विचार हैं?

उत्तर : सवाल तो जरूर उठने चाहिएं। उन पर बहस होनी चाहिए। आप जिस परिप्रेक्ष्य को रख रहे हैं, उस परिप्रेक्ष्य में अगर इसकी समीक्षा होगी, बात होगी तो मुझे लगता है कि वह बहुत अच्छी बात होगी। पाठ्यपुस्तक समिति बनने का अर्थ यह नहीं है कि वह जो कहेंगे वही अन्तिम है। सभी लोगों का, और मैं केवल विशेषज्ञों की बात नहीं कर रहा हूं, शिक्षकों, शिक्षाविदों, शिक्षा के क्षेत्र में काम करने वाले स्वयंसेवी संगठनों आदि का यह अधिकार है कि वे इन किताबों की समीक्षा करें। वे इन किताबों को पढ़ें और उसके बारे में बात करें क्योंकि यह सही है कि हम चाहें या न चाहें हरेक व्यक्ति के किसी न किसी तरह के पूर्वाग्रह तो हो सकते हैं और वे पाठ्यपुस्तकों में भी आ सकते है। इसलिए किताबों की समीक्षा करने में मुझे कोई गलत बात नहीं लगती। यह जरूर होनी चाहिए क्योंकि किताबें सार्वजनिक क्षेत्र में हैं। यदि 6 साल में इस पर कोई बहस नहीं हुई है, तो अब होने में मुझे कुछ भी गलत नहीं लग रहा है। एनसीईआरटी जब समिति बनाती है तब वह संतुलन बनाने पर जरूर विचार करती होगी, ऐसा मेरा ख्याल है। उसमें प्रतिनिधित्व भी होना चाहिए और विशेषज्ञ भी होने चाहिएं, क्योंकि जब किसी समिति को काम करने के लिए नियुक्त करते हैं तो सभी वर्गों का प्रतिनिधित्व तो नहीं हो सकता लेकिन यदि आप एनसीईआरटी की पाठ्यपुस्तक निर्माण समिति के गठन को देखेंगे तो मुझे लगता है कि अनेक तरह की संवेदनशीलता को ध्यान में रखकर प्रतिनिधित्व करने की कोशिश उस समय की गई थी। मुझे लगता है कि आगे भी करनी चाहिए।

प्रश्न : हाल में संसद ने कुछ विषयवस्तु को हटाने का जो निर्णय किया, क्या वह किसी भी तरीके से अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता का उल्लंघन था?

उत्तर : नहीं, मैं ऐसा बिलकुल नहीं मानता कि यह अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता का सवाल है क्योंकि मुझे आज भी अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता है। जब आप पाठ्यपुस्तक लिखते हैं तो सवाल अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता का नहीं होता। यह पाठ्यपुस्तक लेखन समिति की स्वायत्ता का सवाल होता है। इस संदर्भ में यह बहुत ही सीमित सवाल है। मैं बिलकुल नहीं कहूंगा कि इससे कोई अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता का संकट आ गया है। संचार माध्यमों में जो चर्चा चल रही है मैं उससे बिलकुल सहमत नहीं हूं।

प्रश्न : राजनीति विज्ञान की जो मौजूदा पाठ्यपुस्तक हैं, खास कर 9वीं और 10वीं की, उसमें एक बड़ा प्रस्थान है। पहले की किताबें नेहरू और गांधी पर ज्यादा केन्द्रित थीं। लेकिन इन पाठ्यपुस्तकों में अंबेडकर, फूले, पेरियार आदि को बराबर का महत्त्व दिया गया है। इसके पीछे के क्या कारण हैं?

उत्तर : देखिए, पिछले 25-30 सालों में विशेषज्ञ समुदाय में यह जागरूकता पैदा हुई है। पिछले 100-200

सालों के हिन्दुस्तान के सामाजिक इतिहास में महात्मा गांधी और नेहरू का तो योगदान है ही लेकिन अन्य चीजों में उतना ही, और कई चीजों में शायद उनसे भी ज्यादा, अन्य लोगों का योगदान है। मैं यह कहूंगा कि इसमें हमारा व्यक्तिगत श्रेय ज्यादा नहीं है। यह श्रेय पिछले 25-30 सालों के आन्दोलनों और विशेषज्ञ समुदाय में जो बदलाव आए हैं, हम उसका प्रतिनिधित्व करते हैं। क्योंकि हम मानते हैं कि जहां तक विविधता का सवाल है, जाति का सवाल है; तो हमें फूले, पेरियार और अंबेडकर आदि विचारकों के काम और उनके विचारों का अध्ययन ज्यादा बारीकी से करना चाहिए। वह ज्यादा महत्त्व रखता है। और हमारी यह सोच, जैसा मैंने पहले कहा, पिछले 25-30 सालों के परिवर्तन का एक प्रतिबिम्ब है और प्रतिनिधि है। उसी की वजह से यह हुआ है। मैं यह नहीं कहूंगा कि यह कृत्रिम तरीके से हुआ है। मुझे यह लगता है कि पूरे देश में, पूरे समाज में और विशेषज्ञ समुदाय में एक समावेशी विचार आ रहा है कि नेहरू जी और गांधी जी के साथ-साथ कई मुद्दों पर अन्य विचारकों का भी अध्ययन बारीकी से किए जाने की जरूरत है। आपको इस विचार का प्रतिनिधित्व इन किताबों में मिलेगा। यह सच बात है और मैं यह गर्व से कहूंगा कि हमारी किताबों और अन्य किताबों में पहली बार सामाजिक न्याय की विचारधारा को प्रमाण मानते हुए संविधान के लोकतंत्र के बारे में लिखा गया है। यह सिर्फ हमारी ही किताबों में नहीं हुआ है बल्कि छठी, सातवीं और आठवीं की किताबों में भी हुआ है। अन्य विषयों की किताबों में भी हुआ है। यह राष्ट्रीय पाठ्यचर्या रूपरेखा 2005 और उसके के बाद आई हुई किताबों की प्रमुख उपलब्धि है, ऐसा मेरा मानना है।

प्रश्न : आपने कहा कि इस प्रक्रिया में विशेषज्ञ समुदाय पर ध्यान रहा, लेकिन शायद इन विचारकों की विचारधारा का प्रभाव समाज के एक खास वर्ग पर ज्यादा दिखता है। जिसकी वजह से सामाजिक रिश्तों में एक खास तरह का बदलाव देखा गया है और स्कूली शिक्षा में सामाजिक रिश्तों में भी एक प्रभाव दिखाई देता है। क्या इस वजह से भी इन विचारकों को ज्यादा महत्त्व देने की जरूरत समझी गई?

उत्तर : नहीं-नहीं, मैं सिर्फ यह स्पष्ट कर रहा था कि पाठ्यपुस्तकों में ये क्यों आया, कैसे आया। स्कूलों में बच्चे किन समुदायों के हैं, इससे इसका कोई मतलब नहीं है, क्योंकि मैं ऐसा नहीं मानता कि फूले, अंबेडकर या पेरियार किसी एक समुदाय के नेता हैं। वे एक समुदाय से आए हैं यह तो वस्तुनिष्ठ ऐतिहासिक तथ्य है लेकिन उस समुदाय से आने के बाद भी उन्होंने जो विचार रखे हैं वे सारे समाज के लिए हैं और आज हम कहते हैं कि सारे हिन्दुस्तान के लिए हैं। मुझे उम्मीद है कि यदि हम उनका ज्यादा बारीकी से अध्ययन करेंगे तो यह भी हमारे ध्यान में आएगा कि उनके विचार दुनियाभर के समानतावादी विचार रखने वाले सभी लोगों के लिए उपयुक्त हैं। हम इसे विशेष से सार्वभौम की ओर जाने की यात्रा कहते हैं। हम पहले तो यह मानते हैं कि अंबेडकर किसी एक समुदाय के नेता हैं, बाद में हमारे ध्यान में यह आता है कि वे सारे हिन्दुस्तान की भलाई के बारे में सोच रहे हैं। शायद बाद में यह पता चलेगा या चलने लगा है कि दुनिया भर में समानता के बारे में जो सवाल हैं, उनके संदर्भ में भी इनकी सार्थकता है। यह विचारों के विकास की एक प्रक्रिया है।

प्रश्न : एनसीएफ 2005 आने के बाद पाठ्यपुस्तकों में जितने बदलाव हुए हैं, आप उसमें शामिल रहे हैं। उसका एक बहुत बड़ा असर शिक्षकों के काम पर होने वाला है। क्योंकि इसमें नई पाठ्यपुस्तकों को पढ़ाने के तौर-तरीकों में खास तरह के बदलाव की अपेक्षा की गई है। इन पाठ्यपुस्तकों को बनाते वक्त आप शिक्षकों से किस तरह के शिक्षणशास्त्रीय बदलाव की अपेक्षा कर रहे थे? शिक्षक इसे कैसे अंजाम देंगे?

उत्तर : अपेक्षा तो यह है कि शिक्षक इन पाठ्यपुस्तकों को बारीकी से पढें। मैं तो चाहूंगा कि इन पाठ्यपुस्तकों पर शिक्षकों का प्रशिक्षण हो तो ज्यादा अच्छा रहेगा। मुझे पता है कि यह प्रश्न शिक्षकों की बड़ी संख्या से जुड़ा है। लेकिन इसे किए जाने की जरूरत है, क्योंकि पाठ्यपुस्तक, मैंने पहले भी कहा, एक छोटा हिस्सा है। बड़ा हिस्सा तो शिक्षक है और उनके ऊपर ही सब निर्भर करता है कि वे इन किताबों को बच्चों के सामने किस तरह प्रस्तुत करते हैं। हमारी यह सोच है कि इन पाठ्यपुस्तकों के साथ-साथ यदि शिक्षकों का बेहतर प्रशिक्षण मिले तो इन पाठ्यपुस्तकों से ज्यादा सफलता मिल पाएगी। मुझे नहीं पता कि यह हम कैसे करेंगे। मुझे यह भी नहीं पता कि इतनी बड़ी संख्या में शिक्षकों के प्रशिक्षण किस तरह होंगे। लेकिन अगर यह होता है तो यह बहुत अच्छी चीज होगी। क्योंकि यह बहुत जरूरी है कि शिक्षकों का प्रशिक्षण या उन्मुखीकरण होना चाहिए। हमने अभी सिर्फ इतना भर किया है कि इन किताबों में शिक्षकों के लिए अलग से नोट लिखे हैं कि शिक्षक इन पाठ्यपुस्तकों को कैसे पढ़ाएं, क्या पढ़ाना है, क्या नहीं पढ़ाना है। किस तरह के सवाल परीक्षा में पूछने हैं और किस तरह के नहीं पूछने हैं। बच्चों को किसके बारे में ज्यादा जानकारी दें, किसके बारे में बच्चों को खुद जानकारी इकट्ठी करने को कहें। यह सब इन पाठ्यपुस्तकों में लिखा है। लेकिन यह सिर्फ एक चिट्ठी है, इस चिट्ठी से ज्यादा कुछ होगा मुझे ऐसा नहीं लगता। मैं मानता हूं कि इसके लिए सघन प्रशिक्षण की आवश्यकता है।

प्रश्न : आप क्या सोचते हैं कि शिक्षकों को किस तरह का प्रशिक्षण दिया जाना चाहिए?

उत्तर : मैं इसके बारे में कुछ नहीं कहूंगा, जैसा कि मैंने कहा कि, शिक्षाशास्त्र या शिक्षा मेरा क्षेत्र नहीं है। मैं राजनीति विज्ञान पढ़ाता हूं, इससे आगे की विशेषज्ञता मेरे पास नहीं है।

प्रश्न : इन पाठ्यपुस्तकों में एक खास तरह का नवाचार किया गया है। 10वीं, 11वीं और 12वीं कक्षा की पाठ्यपुस्तकों में शिक्षणशास्त्रीय विधा के तौर पर कार्टून का प्रयोग किया गया है। लेकिन भारत में कार्टून बहुत लोकप्रिय माध्यम नहीं रहा है। शायद शिक्षक समुदाय कार्टून को बहुत ज्यादा तवज्जो नहीं देता या उसकी बारीकियों को भी नहीं समझता। दूसरी बात है कि कार्टून एक तरह की व्यक्तिपरक समझ की मांग करता है जिसके लिए शायद अभी हमारे शिक्षक तैयार भी नहीं हैं। इसके बावजूद कार्टून को प्रयोग के तौर पर इन पाठ्यपुस्तकों में स्थान दिया गया है। इसके पीछे क्या सोच रही है?

उत्तर : मैं यह बताना चाहूंगा कि कार्टून एक जरिया है, लेकिन इसके साथ-साथ बहुत बड़ी तादाद में अखबारों की खबरों का भी इस्तेमाल किया गया है और फोटोग्राफ का भी इन पाठ्यपुस्तकों में इस्तेमाल किया है। अब ये तीनों चीजें क्यों ली हैं? एक तो यह कि पाठ्यपुस्तकों में दृश्य डालने का अपना महत्त्व है। एक सबसे प्राथमिक कारण यह हो सकता है कि एक पाठ है और बच्चा पाठ पढ़ता है, उसे पाठ से जोड़ने के लिए कुछ दृश्य होने चाहिएं। लेकिन यह कम महत्त्वपूर्ण मुद्दा है। दूसरा यह कि पाठ में बच्चे की रुचि को बढ़ाना है, क्योंकि अगर आपके पास कुछ कार्टून हैं, फोटो हैं, तो आप जो कह रहे हैं, उसके बारे में रुचि बढ़ सकती है। इनसे ऊपर तीसरा मुद्दा यह है कि ये तीनों चीजें आपको उस वास्तविकता, यथार्थ से जोड़ती हैं, जिसके बारे में पाठ बात करता है। पाठ को समझना वास्तविक मकसद है। उदाहरण के लिए, आपको 'विभाजन' पर बात करनी है। विभाजन की बात तो पाठ में लिखी जाती है, लिखी भी है। लेकिन जितने प्रभावी ढंग से आप पाठ में लिखेंगे, उसके कई गुना ज्यादा प्रभावी रूप से विभाजन के फोटो बच्चों के सामने रखेंगे तो वह हकीकत बच्चे के सामने ज्यादा जीवंत तरीके से आ जाएगी।

यदि आज के समय में बच्चे को विभाजन या संविधान निर्माण या अन्य किसी विषय का इतिहास और उसकी राजनीति समझानी है कि उस जमाने में यह कैसे दिखता था, तो यह बताना जरूरी है। या अगर आपको चिली के बारे में बताना है कि चिली में आइंदे की हत्या हुई है, इसकी तो हम कहानी पढ़ाते हैं, यह हमने कक्षा 9 की किताब में दी है। लेकिन चिली में जब आइंदे की हत्या होती है तो उसके साथ-साथ अगर कुछ फोटो या उस घटना की आलोचना करने वाले कार्टून हैं तो बच्चा उसको जोड़ पाएगा। इसके बाद बच्चा उसकी समझ विकसित करने का प्रयास करेगा कि यह क्या चीज है। पाठ्यपुस्तक अंतिम सत्ता नहीं होनी चाहिए। इसलिए हमने तय किया कि फोटो, कार्टून और अखबार की कतरनें देंगे। आप देखें कि 12वीं कक्षा की राजनीति विज्ञान पुस्तक 'भारतीय राजनीति' में हमने एक और प्रयोग किया है कि जिसके बारे में कहीं बहस नहीं हुई। हरेक अध्याय में, वह अध्याय जिस जमाने की, जिस राजनीति की बात करता है उससे अप्रत्यक्ष रूप से जुड़ी हुई एक फिल्म की कहानी हमने दी है। अब कोई यह कह सकता है कि यही फिल्म क्यों ली है? विवाद तो किसी भी चीज के बारे में उत्पन्न हो सकता है। हम कहेंगे कि हमें तो एक साल में किताब तैयार करनी थी, उस एक साल में बहस करते हुए जो फिल्म हमें उपयुक्त लगी, उसे हमने चुना है। अगर आप दूसरी किताब तैयार करते हैं और यदि उससे कोई बढ़िया फिल्म है तो उसे आप ले सकते हैं। उसमें यह बिलकुल नहीं कहा गया है कि इस अध्याय को समझने के लिए यह फिल्म है। लेकिन यह अध्याय जिस जमाने की बात करता है, उस पर यह फिल्म टिप्पणी करती है। अब आदर्श स्थिति क्या है? आदर्श स्थिति यह है कि शिक्षक फिल्म पर कोई बात नहीं करे। शिक्षक फिल्म या कार्टून नहीं पढ़ाएंगे। कार्टून पढ़ाने की चीज नहीं है। फिल्म पढ़ाना भी इस पाठ्यपुस्तक का उद्देश्य नहीं है।

हम 12वीं कक्षा की बात कर रहे हैं। मान लीजिए, आपके स्कूल में फिल्म क्लब है, उसमें बच्चे फिल्म देखें। 12वीं के शिक्षार्थी फिल्म क्यों न देखें। फिल्म देखने के बाद ये शिक्षार्थी आपस में चर्चा या बहस क्यों नहीं कर सकते हैं कि इस फिल्म का क्या मतलब है। फिर चाहे यह फिल्म 'जंजीर' हो या 'हजार चौरासीवें की मां' या 'हजारों ख्वाहिशें ऐसी' हो। शिक्षक इसमें बिलकुल गैर-जरूरी है। शिक्षार्थी कोई भी फिल्म लेकर उस फिल्म को कल की राजनीति, आज की राजनीति से जोड़ें। इस सबके पीछे यही उद्देश्य है। दुर्भाग्य यह है कि बात सिर्फ कार्टून की हो रही है। दुर्भाग्य यह है कि कार्टून में थोड़ा मजाक, थोड़ी आलोचना होती ही है। हमें लगा था कि पाठ्यपुस्तक में इनके आने से इन पाठ्यपुस्तकों का मूल्य, सार्थकता, शैक्षिक महत्त्व, शिक्षणशास्त्रीय महत्त्व बढ़ जाएगा। मुझे पता नहीं यह हुआ कि नहीं। अभी हाल ही में इन पाठ्यपुस्तकों को लेकर जो विवाद हुआ है उसे देखकर तो यह लगता है कि यह आन्दोलन तो नहीं हुआ। ◆